श्री रामचरित मानसान्तर्गत

श्री लक्ष्मण गीता

"सो सुखु करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"

प्रस्तोता

कृष्णचन्द्र मिश्र

पत्रालय – बन्दनवार

पिन – ८१४१४७

प्रकाशक : सचिव

मानस मंड़ली, बन्दनवार-पत्रालय-८१४१४७

प्राप्ति स्थान : सचिव,

मानस मंड़ली

पत्रालय-बन्दनवार

भाया-पथरगामा

पिन-८१४१४७

मुद्रक-श्री उदय प्रिंटिंग प्रेस, स्टेशन रोड, (पूरब) समस्तीपुर ।

प्रकाशन तिथि-माघ शुक्ल पंचमी सम्वत-२०३८

मूल्य-पचास पैसे मात्र

ॐ

निषाद विषाद : लक्ष्मण गीता

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः ।
तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्वुजश्री : रघुनन्दनस्य
मे सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ।।

गीता, गंगा, गायत्री का आर्य संस्कृति में कुछ वैसा ही गौरवशाली स्थान है जैसा ब्रह्मा, विष्णु, महेश का ! यों तों रूढ़ि अथ में गोता मे अभिप्रेत है श्रीमद्भगवद्गीता, किन्तु मूल अर्थ है गीता का वह ज्ञानोपदेश जिसे कण्ठाग्र रखना ही नहीं, वलिक जिसे तल्लीनता के साथ गाना है, मनन ही नहीं, निदिध्यासन, बारम्बार चिन्तन करना है, उसे जीवन में क्रियान्वित करना है, उसी सांचे में जीवन को ढालना है, क्योंकि वह अमोघ औषधि है भवरोग का, सुदृढ़ प्लव है संसार-सागर संतरण हेतु।

दुःखालय ही नहीं, अशाश्वत है यह संसार। इसमें बहुलांशतः दुःख है और अल्पांशतः सुख, यद्यपि सब प्राणी चाहते हैं सुख, दिन - रात परिश्रम करते हैं सुख के लिए, परन्तु गलत विधि अपनाने के कारण मिलता है दुःख ही। गीता वह विधि बतलाती है जिससे व्यक्ति विषाद से मुक्त होकर शाश्वत का, सत् का अनुभव प्राप्त कर सकता है, प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठकर उनके विकारों-प्रभावों से मोक्ष पा सकता है।

श्री लक्ष्मण गीता में भी वही ज्ञानोपदेश है जिससे युधिष्ठिर भ्राता अर्जुन जैसा भक्त ही नहीं गुह निषाद जैसा नर भी विषाद मुक्त होकर सच्चिदानन्द की ओर उन्मुख हो सका।

श्री लक्ष्मण गीता की पृष्ठभूमि

श्री मद्भगवद्गीता जिस तरह महाभारत में गर्भित है उसी तरह श्री लक्ष्मण गीता श्री रामचरित मानस में गर्भित है। नर-लीलाओं के क्रम में श्री रामचन्द्र जी श्री सीता जी और अनुज श्री लक्ष्मण जी के साथ अयोध्या त्याग कर वन की ओर जाते हुए शृंगवेरपुर पहुँचे हैं। सम्राट् दसरथ के रथ

का कोविदार ध्वज जैसे ही दीख पड़ा वैसे ही भाई-वन्धुओं, प्रियजन-परिजनों तथा कन्द–मूल–फल के भारों के साथ दौड़ पड़ा निषाद राज गुह रथारूढ से मिलने के लिए। अधीनस्थ राजा का यह कर्त्तव्य जो था।

शक्र-सखा स्वयं सम्राट् यदि नहीं भी हों उस रथ पर तब भी उस राजपरिवार के कोई प्रिय माननीय सदस्य तो होंगे ही, यों सोचता हुआ प्रसन्नता से वह रथ की ओर बढ़ चला। समीप पहुँचने पर वह देखता है श्री सीता, राम, लक्ष्मण को।

देखते ही निषाद राज

"करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें" ।।

इनके दर्शन मात्र से अति अनुराग उमड़ आया उसके हृदय में; अद्भुत आकर्षण था उस अनुपम सौन्दर्य में, जिन्हें देख कभी मिथिलाधिपति विदेह को भी कहना पड़ा था,

"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा" ।।

चक्रवर्ती समाट् सुवन श्री राम ने निषाद राज के भेंट-भारों की ओर ध्यान नहीं दिया, दंडवत की ओर भी नहीं; किन्तु जब उसके हृदय में अपने प्रति अति अनुराग देखा तब "पुनीत प्रेम अनुगामी" श्री राम से नहीं रहा गया। उन्हें तो केवल प्रेम ही प्यारा है। निषाद के हृदय में शुद्ध सात्विक प्रेम देखते ही उन्होंने न उसकी जाति देखी और न पांति, लगा लिया उसे अपने हृदय से (1) और बैठा लिया उसे अपने समीप और पूछने लगे कुशल–क्षेम।

धन्य हो गया गुह! इतना प्रेम; इतना आदर, इतनी प्रतिष्ठा आज तक उसे कभी किसी से मिली ही नहीं थी। कितना अद्वितीय हैं यह राज–कुमार! तब भी यह मुनि वेष तथा बनवास!

अपने हृदय में उसने रख लिया उन्हें। अब अभिलाषा बढ़ी उन्हें गृह, अपने पुर में भी ला विराजने की। अत्यन्त विनीत होकर करबद्ध प्रार्थना की उसने उनसे :

"देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा ।।"

"कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सबु लोगु सिहाऊ ।।"

---

(1) आलिंगन का उल्लेख अध्यात्म रामायण में है, "मानस" में नहीं।

[देव! भक्त को सब कुछ सदैव देने को तत्पर देव! दिन ढल चुका है, अब कृपा करि "पुर धारिअ पाऊ" क्योंकि इस दास का परिवार, धन, धाम, राज्य सब तो आपका ही है, अपना ही समझ कर चलें वहां।]

इस प्रार्थना को सुनते ही सत्य संघ प्रभु ने, कुसुम से भी कोमल प्रभु ने वज्र से भी कठोर प्रतिज्ञा-पालन में अपने रुप का दर्शन कराते हुए उससे कहा;

"कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥"

सुनना चाहते हो वह आदेश तो सुन लो—

"बरष चारि दस बासु बन मुनि व्रत वेषु अहारु"

अत: "ग्राम बासु नहिं उचित" मनुष्य समुदाय के मध्य जाकर रहना उचित नहीं है; यही लाचारी है।

यह सुनते ही "गुहहि भयोउ दुखु भारु"। भारी दु:ख हुआ निषाद को यह सुनकर; श्री गणेश हो गया उसके विषाद का, परन्तु उसके कर्त्तव्य की इति श्री नहीं हुई। उसका उत्तरदायित्व और बढ़ ही गया। उनके रात्रि निवास की व्यवस्था उसे कहीं अपने गांव के बाहर ही करनी है। वह सोचने लगा, कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा इनके रात्रि - विश्राम के लिए।

ऐसे देवोपम पुरुषों के लिए सुरसरि तट से अधिक उपयुक्त स्थान इस पृथ्वी पर कौन सा हो सकता है। उसे स्मरण हो आया देवापगा तट का शिशुपा वृक्ष। तत्क्षण उसने श्री राम जी को ले जाकर वह स्थान दिखलाया। मिल गया अनुमोदन श्री राम का उसे,

"कहेउ राम सब भाँति सुहावा" फिर क्या था?

इधर "पुरजन करि जोहारु घर आए"।

उधर "रघुवर संध्या करन सिधाए"॥

और लग गया वह अपने पूज्य अतिथियों के आतिथ्य में,

"गुहँ संवारि साँथरि डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई॥"

"सुचि फलमूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥"

सन्ध्या-वन्दन कर लौटने पर यथा समय

"सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ॥"

कुछ समय के बाद, "उठे लखन प्रभु सोवत जानी" और सचिव को विनय पूर्वक सोने के लिए कह कर, उनके जाने के बाद, श्री लक्ष्मण,

"कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥"

श्री लक्ष्मण की भाँति गुह भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति सावधान था। परमप्रिय अतिथियों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था कर

"आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥"

महाजन का, श्रेष्ठ का अनुकरण करना ही चाहिए, लेकिन सन्तों का अनुगमन करने पर भी सन्त जैसा हृदय होने में समय लगता है।

निषाद विषाद योग

श्री लक्ष्मण बीरासन में बैठे हैं, शान्त, निर्विकार, लेकिन गुह? उसे न श्री लक्ष्मण-सा वैराग्य है और न तत्त्व दृष्टि ही लेकिन श्री सीताराम के प्रति प्रेम अवश्य है हृदय में अतएव,

"सोवत प्रभुहि निहारि निषादू।
भयउ प्रेमबस हृदयँ बिषादू॥"

निषाद को विषाद! जो दिन-रात जीव हिंसा में रत रहता है उसके पाषाण हृदय में करुणा की निर्झरणी फूट पड़ी। यही है जीवन में महान क्रान्ति का क्षण, काया कल्प का मुहूर्त्त। अर्जुन को यह बिषाद हुआ धर्मक्षत्र मैं, कुरुक्षेत्र में, मरने-मारने को उद्यत दोनों पक्षों के कौरवों को देखकर और त्रेता युग में शृंगवेरपुर के गंगातट के शिशुपावृक्ष के नीचे

"भयऊ बिषादु निषादहिं भारी।
राम सीय महि सयन निहारी॥"

विषाद का तात्कालिक करण कुछ भी क्यों न हो, उसका मूल कारण है ममता, माया, भ्रान्ति, अज्ञानता या यथार्थ के ज्ञान का आभाव। विषादान्धकार कितना भी गहरा क्यों न हो ज्ञान-रवि के उदय होते ही वह मिट जाता है और यह घटित हो है उपयुक्त क्षण में किसी तत्त्वज्ञानी के सदुपदेश

द्वारा।

माधुर्य भाव से "सोवत प्रभुहि निहारि" निषाद के हृदय के भाव-सागर में उत्ताल तरंगें उठने लगती हैं। वह सोचने लगा कि चक्रवर्ती महराज के राज प्रासाद में सब भौतिक सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण मणिमय भवन में मृदुल मंजु मणिमय पर्यंक पर शयन करना और कहाँ यह पृथ्वी पर शिशुपा वृक्ष के नीचे अभाव ग्रस्त-सा रात काटना ! उस महान् अन्तर को सोचते-सोचते इतनी विह्वलता आजाती है कि गुह-

"तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥"

कहता है कि हे लक्ष्मण !

"भूपति भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारू चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥"

"सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगन्ध सुबास।
पलंग मंजु मनिदीप जहँ सब विधि सकल सुपास॥"

"तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छवि रति मनोज मृदु हरहीं॥"

वे ही अभी देखो किस तरह पृथ्वी पर कुशपात की साथरी पर पड़े हैं।

श्री सीता जी के बिषय में सोचकर उसका हृदय फट उठता है, कहता है,

"पिता जनक जग विदित प्रभाऊ।
ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥"

सुनकर श्री लक्ष्मण निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि यह निषाद बोल क्या रहा है, यह श्री सीता राम को समझ क्या रहा है, मात्र राजकुमार राजकुमारी ? क्या उनके इस बाह्यरूप के बाद उनके दिव्य रूप का भी कुछ उल्लेख करेगा, इस प्राकृतिक परिवर्तन के अतिरिक्त उनके शाश्वत एकरसता का भी प्रसंग चलायेगा ? ऐसा वे सोच ही रहे थे कि निषाद बड़ बड़ा उठा,

"कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥"

"भई दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥"

यह सुनते ही श्री लक्ष्मण जी को निश्चय हो गया कि यह गुह 'राम गुन गूढ' को नहीं समझ सका; निषाद के इस भारी विषाद का कारण उसकी अज्ञानता है, तत्त्वज्ञान के आभाव में उसकी ममता है, सांसारिक मोह-माया है। श्री रामानुज को तरस आई उसकी सूझ-बूझ पर कि श्री सीताराम की उपासना की सब औपचारिकता का निर्वाह करते हुए भी यह अभी तक नहीं जान पाया है कि–

"सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥"

और न तथ्यतः समझ पाया है यह –

उद्भव स्थिति संहार कारिणी क्लेशहारिणी,
सर्वश्रेयस्करी श्री रामवल्लभा सीता जी को हो।

इस निषाद की दृष्टि परिवर्तनशीलता पर है अविनश्वरता पर नहीं, स्थूल पर है, सूक्ष्म या सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर नहीं; पंच महाभूतों पर है उनके मूल कारणों पर नहीं, क्षेत्र पर है क्षेत्रज्ञ पर नहीं, संसार पर है संसार-पार पर नहीं। पात्रत्व रहते हुए भी इसे तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है, शायद इसीलिए प्रभु ने प्रेरित किया इसे मेरे पास आ बैठने के लिए। दूसरी ओर

"ज्ञानं सँप्राप्य संसारे यः परेभ्यो न यच्छति।
ज्ञानरुपी हरिः तस्मै प्रसन्न इव न यत्क्षते॥" (स्कन्द पु०, रेवा ख०)

(संसार में ज्ञानी होकर जो दूसरों को ज्ञान नहीं देता उस पर ज्ञान रुपी परमेश्वर प्रसन्न नहीं होते) ऐसी स्थिति में कैसे समझाया जाय कि जिसे वह 'महि सोवत' देखता है यह वह राम है जिसे –

"सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान॥"

वहीं "एक अनही अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥"

गुह को कैसे समझाया जाय कि उस श्री सीता जी के विषय में 'महि सोवत' देखकर चिन्ता करते हो जिसकी श्री राम से इतनी अनन्यता है

कि कौसल्या माता के समक्ष "आरति बस" कहा था कि

"प्राणनाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥"
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पिय बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राणनाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मों कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

श्री रामानुज मन ही मन सोचने लगे कि इस निषाद को श्री राम तथा श्री सीता जी के एकत्व का, सनातन साथ का रहस्य कैसे समझाया जाय, इसे कैसे विश्वास दिलाया जाय कि

"राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥
नाथ नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरसित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय मन राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥
परन कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमियसम कंद मूल फल॥
नाथ साथ साँथरी सुहाई।
मयन सयन सय सम सुखदाई॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू तेहि कि मोहि सक बिषय बिलासू॥
सुमिरत रामहि तजहिं जन तृण सम बिषय बिलासू।
राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आचरजु तासू॥

सुमित्रानन्दन चिन्ता में हैं कि क्या निषाद आर्यों में प्रचलित नारी धर्म का ज्ञान भी नहीं रखता है कि—

का कोविदार ध्वज जैसे ही दीख पड़ा वैसे ही भाई-वन्धुओं, प्रियजन-परिजनों तथा कन्द-मूल-फल के भारों के साथ दौड़ पड़ा निषाद राज गुह रथारूढ से मिलने के लिए। अधीनस्थ राजा का यह कर्त्तव्य जो था।

शक्र-सखा स्वयं सम्राट् यदि नहीं भी हों उस रथ पर तब भी उस राजपरिवार के कोई प्रिय माननीय सदस्य तो होंगे ही, यों सोचता हुआ प्रसन्नता से वह रथ की ओर बढ़ चला। समीप पहुँचने पर वह देखता है श्री सीता, राम, लक्ष्मण को।

देखते ही निषाद राज

"करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें" ।।

इनके दर्शन मात्र से अति अनुराग उमड़ आया उसके हृदय में; अद्भुत आकर्षण था उस अनुपम सौन्दर्य में, जिन्हें देख कभी मिथिलाधिपति विदेह को भी कहना पड़ा था,

"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा" ।।

चक्रवर्ती सम्राट् सुवन श्री राम ने निषाद राज के भेंट-भारों की ओर ध्यान नहीं दिया, दंडवत की ओर भी नहीं; किन्तु जब उसके हृदय में अपने प्रति अति अनुराग देखा तब "पुनीत प्रेम अनुगामी" श्री राम से नहीं रहा गया। उन्हें तो केवल प्रेम ही प्यारा है। निषाद के हृदय में शुद्ध सात्विक प्रेम देखते ही उन्होंने न उसकी जाति देखी और न पांति, लगा लिया उसे अपने हृदय से (1) और बैठा लिया उसे अपने समीप और पूछने लगे कुशल-क्षेम।

धन्य हो गया गुह! इतना प्रेम; इतना आदर, इतनी प्रतिष्ठा आज तक उसे कभी किसी से मिली ही नहीं थी। कितना अद्वितीय हैं यह राजकुमार! तब भी यह मुनि वेष तथा बनवास!

अपने हृदय में उसने रख लिया उन्हें। अब अभिलाषा बढ़ी उन्हें गृह, अपने पुर में भी ला विराजने की। अत्यन्त विनीत होकर करबद्ध प्रार्थना की उसने उनसे :

"देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा ।।"

"कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सबु लोगु सिहाऊ ।।"

---

(1) आलिंगन का उल्लेख अध्यात्म रामायण में है, "मानस" में नहीं।

ज्ञान - वैराग्य - भक्ति रस से भरी थी। यही है सच्चे वैष्णव का लक्षण—वचन से भी किसी को पीड़ा न पहुँचाना। यद्यपि निषाद ने कटु वचन का व्यवहार किया था माता कैकेयी के प्रति तथापि श्री लक्ष्मण ने उस पर क्रोध नहीं किया क्योंकि वे जानते थे कि

"दोसु देहि जननिहि जड़तेई। जिन्ह गुरसाधु सभा नहिं सेई ।1"

निषाद को गुरु और साधु सभा सेवन का अवसर ही कहां मिला था। इसलिए वह जो बोल ले सब क्षम्य है किन्तु श्री लक्ष्मण श्री राम जी का छोटा भाई है उन्हें तो मधुर मृदु और ज्ञान - भक्ति-वैराग्य युक्त वचन हीं शोभा देंगे। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति की आवश्यकता भी थी उस समय निषाद को क्योंकि उनके बिना विषाद निर्मूल नहीं हो पाता। वैराग्य के बिना ज्ञान का उदय होता नहीं है और शुष्क ज्ञान अथवा भक्तिहीन ज्ञान उत्थान के बदले पतन का कारण होने की सम्भावना रखता है। वैराग्य और भक्ति से सम्पुटित ज्ञान ही आत्मोद्धार में सहायक होता है, मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर कराता है, परमधाम पहुँचाने की क्षमता रखता है, क्योंकि "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" ज्ञान के बिना मुक्ति कहाँ ?

सर्व प्रथम रामानुज ने गुह को परदोष दर्शन से दूर हटाना चाहा और साथ ही यह भी स्पष्ट करना चाहा कि दुःख सुख का वास्तविक कारण कोई बाह्य प्राणी या पदार्थ नहीं है, दुःख सुख व्यक्तिगत है। बाहर न देखकर अपने अन्दर देखो।

"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता॥"

हे भाई! (कैसा प्रिय सम्बोधन!) कोई किसी का दुःख सुख दाता नहीं है, हो ही नहीं सकता है, क्योंकि यदि मीमांसकों का मत ही मानो तब भी अपने शुभाशुभ कर्म का फल ही सबको भोगना पड़ता है। वेदान्ती कर्म-वाद से भी ऊपर उठते हैं। उनका सिद्धान्त है कि कर्म शरीर से होते हैं, प्रकृति के गुणों-सत्व, रज, तम—के कारण। उनका सिद्धान्त है कि

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥"-2

2. श्री मद्भगवद्गीता ३।२७

[सत्व, रजस्, और तमस्-इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है उसका नाम प्रधान या प्रकृति है। उस प्रकृति के गुणों से (अर्थात् कार्य और कारण रूप समस्त विकारों से लौकिक और शास्त्रीय) सभी प्रकार के कर्म होते रहते हैं या किए जाते हैं, लेकिन अहंकार (अर्थात् कार्य और करण के संघातरुप शरीर में आत्मभाव की प्रतीति) द्वारा विशेषरूप से मोह में डाले जाने पर या विमूढ किये जाने पर जीव अपने को कर्त्ता या कर्म करने वाला मान लेता है। अहंकार विमूढात्मा की ही ऐसी मान्यता है, तत्त्वविदों की नहीं। उनकी दृष्टि में आत्मा निष्क्रिय है, साक्षीमात्र है। वह न कुछ करता है और न किसी कर्म का फल भोगता है। तत्त्वज्ञ,

"गुणाः गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते" [इन्द्रियरूप गुण ही विषयरूप गुणों में वर्त रहे हैं (आत्मा नहीं वर्तता) ऐसा मानकर कार्य में आसक्त नहीं होते हैं।

कर्मवादी हो या कोई अहंकार विमूढात्मा वह अपने कर्मों का फल भोगता है। उनके दुःख-सुख का कारण वे स्वयं हैं, कोई अन्य नहीं, न कोई प्राणी और न कोई विषय; न कोई इन्द्रियां ही क्योंकि इन्द्रियाँ भी मन के सहयोग और बुद्धि के निर्णय के बिना कुछ कर ही नहीं सकती हैं।

अतएव जो कर्म तथ्यतः जीव द्वारा किया ही नहीं जाता है, किया जाता है प्रकृति के गुणों द्वारा, उन्हें अपनी अज्ञानता के कारण अपना किया हुआ मान कर दुःख सुख का भोगी या भागी बन जाता है। कर्म के प्रति यदि ऐसी आसक्ति न हो तो दुःख - सुख का प्रश्न ही नहीं उठता है। कर्म के प्रति यदि आसक्ति न हो, कर्मफल की स्पृहा न हो तो वे कर्म जीव को दुःख - सुख देने की क्षमता नहीं रखते हैं। जीव दुःख सुख भोगता है न अन्य के कारण, न कर्मों के कारण, बल्कि कर्मों के प्रति आसक्ति और कर्मफल की स्पृहा द्वारा। ऐसी बात है जीव के लिए, शिव के लिए (आत्मा के लिए) कदापि नहीं। श्री कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥" 3

---

3 श्री मद्भगवद्गीता-४।१४

[मुझ में अहंकार का अभाव है इसलिए वे कर्म देहादि की उत्पत्ति के कारण बनकर मुझे लिप्त नहीं करते और उन कर्मों के फल में मेरी लालसा या तृष्णा भी नहीं है।]

जिन संसारी मनुष्यों का कर्मों में "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा अभिमान रहता है, एवं जिनकी उन कर्मों में और उनके फलों में लालसा रहती है, उनको कर्म लिप्त करते हैं यह ठीक है। यही हुआ 'निज कृत कर्म' किन्तु उन दोनों के अभाव होने के कारण वे कर्म लिप्त नहीं कर सकते।

मनोविज्ञान के अनुसार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारो मन ही है, मन की ही विभिन्न क्रियाएँ या रूप हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है कि

"मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः"

मन ही मनुष्यों के बन्धन—देहादि का, जन्म - मरण का, दुःख—सुख का और मोक्ष का कारण है, कोई अन्य व्यक्ति या पदार्थ नहीं। मनोजयी बनने पर दुःख - सुख नहीं होता है।

यह हुई ज्ञान की बात, लेकिन वैराग्य के बिना ज्ञान गले उतरता नहीं है। अतः निषाद में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए सुमित्रा नन्दन कहते हैं, हे भाई निषाद,

"जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥"

अर्थात् विश्व में जो कुछ भी है, जो कुछ दीख पड़ता है, जो प्रकट या अप्रकट है उन्हें यदि दो श्रेणियों में बाँटा जाय तो उन्हें परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील, विनाशी और अविनाशी, विकारी और अविकारी, माया और ब्रह्म या सांख्यशास्त्र की भाषा में प्रकृति और पुरुष कह सकते हैं। उन्हें अर्थ या अर्थ द्वारा प्राप्तव्य और परमार्थ या उत्कृष्ट वस्तु या तत्त्व, यथार्थ तत्त्व, सत् या ब्रह्म कह सकते हैं।

जो परिवर्तनशील है, विकारी है, विनाशी है, अनित्य है उन्हें क्षर

कहा जाता है। प्रकृति या माया भी उसे कहते हैं। यह है मोह मूल। यह है भ्रान्ति स्वरुपा। यह है रात्रि स्वरुपा। यह है महामोहा स्वरुपा।

सांख्य का पुरुष सर्व व्यापक है, विभु है, अन्तर्यामी है, अविकारी है, अविनाशी है, नित्य है, सदा एक तरह रहने वाला है।

वेदान्ती क्षर अक्षर दोनों से परे या श्रेष्ठ एक तत्व मानता है उसे ही सत्, ब्रह्म या पुरुषोत्तम[4] कहा जाता है। यही कविशिरोमणि तुलसी का परम परमार्थ है। पुरुष परमार्थ है, पुरुषोत्तम परम परमार्थ है।

प्रकृति या माया जीवों के भटकाव का, काम-क्रोध-लोभ - मोहादि का कारण है, अतः दुःख-सुख, जन्म-मरण, देहादि का कारण भी। जो माया से जा लिपटता है वह विभिन्न योनियों में भटकता रहता है, विभिन्न प्रकार की यातनाओं का शिकार होता है। इससे बचने का एक ही उपाय है, वह है येन केन प्रकारेण पुरुष की शरण में जाना, अक्षर की शरण गहना। भ्रमणशील किसी वस्तु के केन्द्र में पहुँचने पर भ्रमणशीलता का असर नहीं पड़ता है। पुरुष से पुरुषोत्तम तक जाना आसान हो जाता है।

इसलिए निषाद को मायावश देखकर श्री लक्ष्मण जी कहते हैं कि हे सखे! संयोग, वियोग, भला, बुरा, भोग, मित्र शत्रु, तटस्थ, जन्म, मरण, संपत्ति, विपत्ति, कर्मफल और काल का प्रभाव, पृथ्वी, धाम, धन, पुर, परि-वार, स्वर्ग, नरक, और जहाँ तक जागतिक सब व्यवहार देखने सुनने में आते हैं उन सबों पर यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो दीख पड़ेगा कि वे मोह मूल हैं, मायाकृत हैं, क्षर हैं, क्षणिक हैं। उनमें कोई वास्तविकता नहीं है, कोई तथ्य नहीं है। वे अक्षर नहीं हैं, परमार्थ नहीं हैं। वे सब के सब अर्थ हैं, अनर्थ के मूल हैं। वे स्थायी सुख शान्ति दे ही नहीं सकते हैं, क्योंकि वे सब के सब आपात रमणीय हैं। शाश्वत सुख-शान्ति, शाश्वत रमणीयता, स्थायी आनन्द केवल परमार्थ में है।

इसे और स्पष्ट करते हुए सौमित्र कहते हैं,

"सपनें होई भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥"

---

4 यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरात् अपिच उत्तम:
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:॥—गीता १५।१८

अर्थात् स्वप्न में एक भिक्षुक देखता है कि वह राजा हो गया और उसी तरह इन्द्र भी स्वप्न में देख सकता है कि वे दर-दर के भिखारी हो गए हैं। भिक्षुक को यह राजा होने का सुख और इन्द्र को भिक्षुक होने का दुःख स्वप्न-काल तक ही अनुभव में आयेगा। निद्रा भंग होने पर, स्वप्न टूट जाने पर भिखारी अपने को भिखारी ही पायेगा, पुनः दरिद्रता के दुःख का अनुभव करेगा ही और नाकपति अपने राजत्व का सुख। जग जाने पर उस स्वप्न काल का लाभ न रंक को मिलता है और न नृप को कोई हानि ही। ठीक ऐसी ही बात है सांसारिक लाभ - हानि या सुख दुःख की। परमार्थ की दृष्टि से जिसे लाभ हानि कहा जाता है उनसे सर्वथा भिन्न है यह पार्थिव लाभ-हानि। जागतिक सुख दुःख क्षणिक है, स्वप्नवत् है अज्ञानावस्था तक ही है। तात्विक ज्ञान होते ही उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता है। मायिक और परमार्थिक लाभ-हानि में वही अन्तर है जो स्वप्न और जाग्रत अवस्था के लाभ या हानि में।

अतएव जब सांसारिक लाभ - हानि या सुख दु:ख में कोई वास्त - विकता या तथ्य है ही नहीं तब उनके लिए किसी को दोष देना व्यर्थ है, निरर्थक है। न कर्म वादिता के आधार पर किसी के सुख-दुःख या लाभ - हानि के लिए किसी को दोष देना उचित है और न वेदान्त के आधार पर। मनुष्यों में दूसरे को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति इसिलिए है कि

मोह निसाँ सब सावनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

मोह निशा में सोने वाले अनेक प्रकार के स्वप्न देखते हैं (सत्य के दर्शन नहीं कर पाते) जिन स्वप्नों में कोई तथ्य नहीं है, कोई सचाई नहीं है; भ्रान्ति ही भ्रान्ति है, भ्रम ही भ्रम है। बिरले मनुष्य ही इस मोह निशा में जगे रहते हैं या ऐसी भ्रान्तियों से बचे रहते हैं।

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

इस संसार-रात्रि में योगी (जो आत्मा का योग परमात्मा से करा सकेवे) ही जगे रहते हैं। ऐसे योगी प्रपंच से, माया से सम्बन्ध छोड़े रहते हैं, तोड़े रहते हैं; सांसारिक बिषयों के प्रति आसक्त नही रहते हैं। वे परम अर्थ के ज्ञाता हैं, तत्त्वबिद् होते हैं।

मोह–निशा में स्वप्न देखनेवालों और जगे रहनेवालों को पहचान बहुत आसान है।

"जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥"

जाग्रत जीव वही है जिसे सब विषयों (शब्द–स्पर्श–रुप–रस–गंध) के विलास (उपभोग, विषयों से सुखानुभूति) से विराग हो जाता है, विरक्ति हो जाती है; विषय विलास को वह 'बमन जिमि' त्याग देता है। जाग्रत जीव में ज्ञान और वैराग्य होता है। उसमें विवेक (अच्छे बुरे की, सत्–असत् की, क्षर–अक्षर की पहचान) होती है। विवेक होते ही मोह और भ्रम उसी तरह मिट जाते हैं जिस तरह से सूर्योदय से अन्धकार। जिस जीव की ऐसी स्थिति हो जाती है उसे परमार्थ की प्राप्ति, राम-चरण के प्रति अनुराग हो जाता है, उसी का जीवन सार्थक होता है।

इस तरह ज्ञान की बात कहकर श्री लक्ष्मण निषाद को वैराग्य की बातें कहते हैं ताकि ज्ञान उसके हृदय में जड़ पकड़ सके। उस ज्ञान-वैराग्य को स्थायित्व देने के लिए उसमें भक्ति अंकुरित करना ही नहीं, पल्लवित करना चाहते हैं, कहते हैं

"सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥"

क्योंकि,

"राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥"

हे सखे! मिथ्या को छोड़ कर सत्य को अपनाओ। स्वप्न त्यागो, जगो, उठो, परमार्थ प्राप्त करो। मानव जीवन सार्थक करो। मन, कर्म वचन से राम के चरणों को प्यार करो। यही परमार्थ है। यही ब्रह्म की उपासना है। राम के इस नर रुप में मत भूले रहो। उन्हें ब्रह्म समझो। यही परमार्थ हैं। श्री राम जी अविगत हैं, जैसा देख रहे हैं उससे एकदम भिन्न हैं अर्थात् मन आदि इन्द्रियों से परे हैं, जानने में न आने वाले हैं। ये अलख हैं, लखने में नहीं आते हैं। अनादि हैं ये, शाश्वत हैं, नित्य हैं; सनातन हैं। अनुपम हैं, इनकी उपमा ही नहीं है, एकमेव अद्वितीय हैं। इनकी तरह सृष्टि में दूसरा कोई सर्वशक्ति सर्वगुण सम्पन्न है ही नहीं। इनमें कोई विकार, कोई भेदभाव हैं ही नहीं। ये इतना अपार इतना अनन्त हैं कि वेद भी इनका

पार नहीं पा सकता, है। वेद भी इनके विषय में कहते कहते अन्त में यही कहता है कि न + इति, न + इति, इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, इनके विषय में और भी बहुत कहा जा सकता है। अतः मैं उनका पूर्ण परिचय तुम्हें कैसे दे सकता हूँ।

क्या कहते हो कि ब्रह्म व्यक्त नहीं होते, ब्रह्म अपाणिपादः है। हाँ, सत्य ही सत् या ब्रह्म वैसा है जैसा सुना गया है, लेकिन वह वर्णन है निराकार ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, निष्क्रिय ब्रह्म का। उनकी उपासना, उनका ध्यान सबके लिए सम्भव नहीं है। शरीरधारी के द्वारा अव्यक्त की, अशरीरी की उपासना अति कष्टप्रद है।

"अव्यक्ता हि गतिः दुःखं देहवद्भिः अवाप्यते।"5

जो अव्यक्त गति है वह देहाभिमानयुक्त पुरुषों को बड़े कष्ट से प्राप्त होती है। अतएव जीवों की सुविधा के लिए, उपासना की सुगमता के लिए वही निराकार निर्गुण इस पृथ्वी पर साकार सगुण रूप में प्रकट होते हैं, अवतरण होता है उनका स्थूल रूप में। श्री राम जी उस अव्यक्त ब्रह्म का ही व्यक्त रूप हैं।

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओं के कल्याण के लिए दयालु श्री राम चन्द्र जी (परब्रह्म) मनुष्य शरीर धारण करके तरह तरह के चरित करते हैं, लीलाएँ करते हैं जिनके श्रवण (मनन, निदिध्यासन) से संसार का जाल (भ्रम-फंदा) माया, मोह-निसा मिट जाती है। इसे अच्छी तरह समझ लो कि उसी सत् या ब्रह्म या महाविष्णु ने

विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुण गो पार।।"6

अतएव हे निषाद राज! श्री राम जी के दिव्य रुप को पहचानो और

सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुवीर चरण रत होहू॥

ॐ तत् सत्।

---

5 श्री मद्भगवद्गीता १२।५। 6 'मानस' १।१९२

निषाद विषाद

बरष चारिदस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु॥ २।८८

* * *

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥
पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥
गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥

सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ॥ २।८९

उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥
गुहँ बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदय बिषादू॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥
भूपति भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥

सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥ २।९०

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीर फेन मृदु बिसद सुहाईं॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥
ते सिय रामु साथरीं सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥
जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥

रामचंदु पति सो बैदेही । सोवत महि बिधि बाम न केही ।।
सिय रघुबीर कि कानन जोगू । करम प्रधान सत्य कह लोगू ।।

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह ।।
जेहिं रघुनन्दन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह ।। २।९१

भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी । कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ।।
भयउ विषादु निषादहि भारी । राम सीय महि सयन निहारी ।।
बोले लखन मधुर मृदु बानी । ग्यान बिराग भगति रस सानी ।।
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ।।
जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ।।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू ।।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथु नाहीं ।।

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ ।। २।९२

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू । काहुहि बादि न देइअ दोसू ।।
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा ।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच बियोगी ।।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब विषय बिलास बिरागा ।।
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ।।
सखा परम परमारथु एहू । मन क्रम वचन राम पद नेहू ।।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ।।
सकल बिकार रहित गतभेदा । कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ।।

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल ।। २।९३

सखा समुझि अस परिहरि मोहू । सिय रघुबीर चरन रत होहू ।।
(श्री रामचरित मानसान्तर्गत श्री लक्ष्मण गीता समाप्त)